शोध मंथन, Vol. –VIII, No. 1, 2017 ISSN: (P): 0976-5255, (e): 2454-339X
ICRJIFR
IMPACT FACTOR
3.8942

शोध मंथन

उच्च शिक्षा का पर्यावरण और प्रबन्धन

डॉ0जगदीशचन्द शर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर (संस्कृत)
राजकीय महाविद्यालय राजगढ
हि0प्र0–173101
ईमेल–jagdish0069@gmail.com

शिक्षा राष्ट्रीय जीवन का ऐसा क्षेत्र है, जो बहुत सजीव और संवेदनशील है और उसे जन-आलोचना से न तो बचाया जा सकता है और न ही बचाया जाना चाहिए। जहाँ तक भारतीय शिक्षा का प्रश्न है, इस अलोचना के लाभ नगण्य ही रहे हैं। कुछ समस्या क्षेत्रों की पहचान की जा चुकी है और उनके लिए उत्तरदायी कारकों का पता भी लगाया जा चुका है, परन्तु निराकरण के लिए जो काम आरंभ किए गए, उनका मार्ग बड़ा चक्करदार और दुर्गम था। उनमें से अधिकांश तो पल्लवित हुए बिना ही मुरझा गए और कुछ नष्ट हो गए। आलोचना की बौछार का एक अनपेक्षित परिणाम यह निकला कि शैक्षिक उद्यम की विश्वसनीयता प्रायः समाप्त हो गयी। यह व्यवस्था बहुत बदनाम हो चुकी है, लेकिन न तो इसमें कठोरता के साथ सुधार लाया जा रहा है और न ही यह समाप्त की जा रही है। इससे एक बड़ा कष्टकर प्रश्न उभरता है- क्या यह सारी आलोचना प्रामाणिक और वैध है ? शिक्षा-प्रणाली का अब तक बने रहना ही इस बात का प्रमाण है कि कम-से-कम इसके कुछ पहलू और कुछ खंड ऐसे हैं, जिनका देश की निर्णय-प्रक्रिया में महत्त्व है, जिनमें अभी इसकी क्रियाशीलता शेष है। बाहरी तौर से अपने विदेशीपन के बावजूद यह ऐसी शिक्षा और शिल्प-कौशल जरूर प्रदान करती है, जिससे कुछ लोगों के सुखी जीवन की संभावनाएं बढ़ती हैं। शायद सभी शिक्षा-संस्थाएँ तो नहीं, किन्तु कुछ चुनिंदा संस्थाएँ यह कार्य निश्चित रूप से संपन्न करती हैं। वे धनाढ्य और शक्ति-संपन्न लोगों और साथ ही ऊपर की ओर बढ़ते हुए मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के बेटे-बेटियों को शिक्षा प्रदान करती है। क्रांति का कितना ही शोर क्यों न हो, इस कोटि की संस्थाएँ निरंतर उन्नति कर रही हैं। सुस्थापित संस्थाएँ नयी शाखाएँ खोल रही हैं और उन्ही के साँचे में ढ़ली दूसरी नयी संस्थाएँ स्थापित की जा रही हैं। जो लोग प्रतिष्ठा-प्रतीकों की खोज में रहते हैं, किन्तु विशिष्ट वर्ग के लिए बनी संस्थाओं में प्रवेश नहीं पाते, उनमें से ज्यादातर कुछ कम विशिष्ट ऐसी संस्थाओं को स्वीकार कर लेते हैं, जिनके नाम प्रभावशाली हैं, बाहरी टीमटाम है और जो देश- भर के शहरों और कस्बों में आए दिन खुलती जा रही हैं। यदि यह शैक्षिक ढ़ाँचा उपनिवेशवाद का हित-साधन करने के लिए बनाया गया था और जो कम-से-कम, अंशतः ही नही समसामयिक समाज का भी हित साध रहा है, तो हम यह मान सकते हैं कि उपनिवेशवाद के अवशेष अब भी भारत में मौजूद हैं। यह बात विचारणीय है कि भारतीय समाज की गैर-समतावादी व्यवस्था में क्या ऐसी शिक्षा-प्रणाली, जो यथार्थतः समतावादी हो, अपनी जड़ें जमा सकती हैं ? वर्तमान शिक्षा-प्रणाली, जिसमें शारीरिक श्रम और ऐसा काम करने का विरोध किया जाता है, जिसमें हाथ गंदे होते हों, शिक्षित लोगों को मेहनतकशों से दूर करती है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार दूर किए जा रहे लोगों का अधिकांश भाग कुछ-न-कुछ अंशों में अन्य कारणों से पहले ही दूर हो चुका है। इस बात पर बल देना जरुरी नहीं है कि अलगाव पैदा करनेवाला एकमात्र माध्यम शिक्षा ही है। इसे विभिन्न परिधानों में विभूषित करने का प्रयास किए गए-बुनियादी शिक्षा, कार्य-अनुभव, सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादन

कार्य-किन्तु उनके वांछित परिणाम नहीं निकले, क्योंकि धनाढ्य लोगों के बच्चों के लिए तो वह मात्र एक ऐसा छलावा था, जिस पर उन्होने ध्यान नहीं दिया। दूसरे लोगों के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं था, क्योंकि शारीरिक श्रम उनके जीवन का पहले से ही अंग बना हुआ था।

स्कूलों, विश्वविद्यालयों और समुदायों के बीच पारंपरिक लाभप्रद संपर्क स्थापित करने पर आजकल बल दिया जा रहा है और उन प्रलेखों में, जिनमें नए चिंतन की छाया है, विस्तार -कार्य पर भी बल दिया गया है। यदि इस कार्यक्रम को आर्थिक समर्थन मिल जाए, तो जैसा कि होता आया है, इसे ऊपरी उत्साह के साथ और बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया जाएगा। लेकिन यह संभव प्रतीत नहीं होता कि यदि इसमें रुचि ली गयी तो वह देर तक बनी रहेगी या, इसे उस मंजिल तक पहुँचाया जाएगा, जहाँ यह वांछित फल देने लगे। इस निराशाजनक भविष्यवाणी के पीछे जो तर्क है, वह साधारण है। इस योजना से शिक्षा-प्रणाली के वास्तविक हिताधिकारियों को लाभ नहीं होगा', साथ ही वे लोग भी जो अपनी शिक्षा से नाम मात्र का लाभ उठा पाते हैं, इस नव-परिर्वतन से लाभान्वित नहीं होंगे।

यदि शिक्षा-प्रणाली को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो इससे भारतीय समाज की केवल ऊपरी परत को ही लाभ पहुँचा है-उसी परत को, जो वास्तव में शक्ति और विशेषाधिकार का प्रतिनिधित्व करती है। निःसन्देह कुछ अन्य लोगों को-जिनकी संख्या बहुत बड़ी नहीं है-इस प्रणाली से फायदा हुआ है, परंतु कठोर सत्य यह है कि इसने विशिष्ट वर्ग को बने रहने में सहयोग दिया है और विविध प्रकार से अपने विशेषाधिकार को वैध बनाने और अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में सहायता दी है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि गरमागरम बहसों और ले-दे के बावजूद शिक्षा के ढाँचे के पुनर्निर्माण की दिशा में जो प्रगति हुई है, वह नगण्य है। वर्तमान युग में शिक्षा के निष्पादन-स्तर को लेकर जो व्यग्रता दिखाई दे रही है, उसका कारण यह भी है कि वह विशिष्ट वर्ग के संबंध में अपनी सीमित भूमिका का निर्वाह भी नहीं कर सकती। बढ़ते असंतोष की लपटें विशेषाधिकार के दुर्गों के लिए खतरा पैदा कर रही हैं। विशिष्ट वर्ग की संस्थाओं में भी समय-समय पर उथल-पुथल होती रहती है, अनेक बार हड़तालें, घेराव, विभिन्न प्रकार की हिंसा की वारदातें होती हैं और संस्थाएँ कुछ समय के लिए बंद कर दी जाती हैं। परीक्षाएँ स्थगित कर दीजाती है, जिसके कारण वृति-अनुसूची, जिसे बड़ी सावधानी और बारीकी से तैयार किया जाता है, उलट-पुलट जाती है। विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के बच्चे भी कभी-कभी क्रांतिकारी विचारधारा से प्रभावित हो जाते हैं। इस प्रकार की व्यापक अशांति संस्था को अपनी परंपरागत भूमिका का निर्वाह करने से विमुख कर देती है। चूँकि शिक्षा-संस्थाओं पर चारों ओर से निरंतर दबाव पड़ते रहते हैं, इसलिए उनके काम इस तरह बिगड़ जाते हैं जैसे उन पर मिरगी का दौरा पड़ गया हो। देखते-देखते सब कुछ अस्त-व्सस्त हो जाता हैं । इस नयी परिस्थिति का विशिष्ट वर्ग पर भयानक प्रभाव पड़ता है और लोग कुछ कर गुजरने के लिए बेताब हो उठते हैं।

कुछ करने की यह बाध्यता इस दुखद अनुभूति को स्पष्ट करती है कि यह प्रणाली स्वयं अपना उपचार करने में असमर्थ है, क्योंकि इसकी अधिकाश बीमारियाँ अंतर्जात मूल की नही हैं। उनकी जड़ें, या तो संरचनात्मक अंतर्विरोधों में हैं या पर्यावरण के विक्षोभ में, और इन दोनों का परस्पर बड़ा निकट का संबंध हैं। संरचना -संबंधी असंतुलन और असंगतियों को दूर करने में हुई असफलता ने ही पर्यावरण के प्रदूषण को बढ़ाने में योगदान किया है और उस प्रदूषण ने शिक्षा-संस्थाओं के ढ़ाँचे के असंगत पहलुओं को और भी जटिल बनाने में सहायता दी है। शिक्षा-व्यवस्था जो वास्तव में समाज-व्यवस्था की ही एक उपव्यवस्था है, अपने आप ही संरचनात्मक परिर्वतन या पर्यावरण पर नियंत्रण रखने में असमर्थ है। यद्यपि शिक्षा के उपयोगी स्वरूप को सभी ने स्वीकार किया है, इससे समय-समय पर जो अनेक अपेक्षाएँ की जाती है ˙ उनसे यह आभास होता है मानों इसे एक स्वायत्त प्रणाली माना जा रहा हो। उन प्रयत्नों पर भी विचार कीजिए जो शिक्षा-प्रणाली ने अपने आपको सुधारने के लिए किए हैं। क्या ऐसा किया जा सकता है ? ऐसी स्थिति में जबकि चारों ओर का वातावरण दबाव, तनाव,वैमनस्य और हिंसा से बोझिल हो, शैक्षिक पर्यावरण को उनके विषैले प्रभाव से बचाए रखना कठिन है। इस प्रणाली में विष की जो मात्रा दिन-ब-दिन तीव्र गति से बढ़ती जा रही है, उसे पलक झपकते ही खत्म नहीं किया जा सकता। न ही शिक्षा एकाकी रहकर चरित्र-निर्माण में योग दे सकती है। कक्षा में दी गयी औपचारिक शिक्षा अधिक-से-अधिक दृष्टिकोण, आदर्श और मूल्यों के निर्माण में एक सीमित भूमिका ही अदा कर सकती है। प्रभावी लोकाचार ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं, कक्षा में होनेवाली पढ़ाई से कहीं अधिक महत्वपूर्ण। इसमें पारिवारिक वातावरण की भी अहमियत है और जन-संचार माध्यमों की भी।

इस संदर्भ में साथी-संगी समूहों की भूमिका को भी नगण्य नहीं समझाना चाहिए। अतः शिक्षा-प्रणाली से बहुत ऊँची आशाएँ रखना उचित नहीं होगा। हम शिक्षा से यह अपेक्षा करते हैं कि वह क्रियाशीलता को बढ़ानेवाली और परिर्वतन की प्रमुख प्रवर्त्तक बने। ये दोनों अपेक्षाएँ शिक्षा के स्वरुप और कार्यों को गलत समझने पर अधारित हैं। शिक्षा की इन क्षेत्रों में भूमिका तो है, किंतु वह मूलतः समर्थक भूमिका मात्र है। क्रियाशीलता अवसरों के स्वरूप पर निर्भर होती है, किंतु वह मात्र शिक्षा द्वारा न तो पैदा की जा सकती है और न बदली जा सकती है। इस प्रकार शिक्षा सामाजिक परिर्वतन की आवश्यक शर्त तो है, किंतु पर्याप्त नहीं। शिक्षा को इस क्षेत्र में अपना योगदान करने में सक्षम बनाने के लिए इसे अन्य अनेक कारकों और शक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित करना होगा। यदि शिक्षा को युटोपिया के इंद्रधनुष का अनुगमन करने के लिए छोड़ दिया जाए तो उससे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। इसे प्रगति के लिए जीवनक्षम कार्यनीति के रूप में प्रयोग में लाना होगा। राष्ट्रीय स्वतंत्रता-प्राप्ति के परवर्ती दशकों में भारत अपने सामाजिक पर्यावरण में आनेवाली विकृति का मौन और असहाय साक्षी रहा है। सामाजिक संस्थाएँ मृतप्राय हो चुकी है; राष्ट्रीय लक्ष्य धूमिल पड गए हैं और उनकी प्राप्ति के सांस्थानिक साधनों की शक्ति नष्ट हो गयी है। इस प्रकार न तो साधनों की कोई पवित्रता और मान्यता शेष है और न ही साध्यों की। विभिन्न महत्वपूर्ण क्षेत्रों में नियामक ढाँचे के छिन्न-भिन्न होने के बड़े हानिकर परिणाम निकले हैं, जिनमें एक चरित्र संकट है। अधिकार-बोध का तो विकास हुआ है, परंतु उसे दायित्वबोध द्वारा पुष्ट नही किया गया। छोटे-मोटे लाभ के लिए जोर-जर्बदस्ती और हिंसा का निर्बाध रूप से प्रयोग किया जाता है। निरर्थक नाश ही लहरों में जो राष्ट्रीय क्षति निहित है, उसकी किसी को चिंता नहीं है। भ्रष्टाचार विभिन्न और भ्रांत तरीकों से वैध बनाया जाता है। प्रशासन और प्रबंधन-तंत्र का न्यायसंगत सिद्धांतों पर चलना दूभर हो गया। टकराव क्योंकि सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए उत्पादन को अधिकतम बनाने के लिए मतैक्य के महत्व की उपेक्षा की जाती है। दया और क्षमा के बारे में भ्रांत धारणाएँ रखने का यह परिणाम होता है कि अपराधी-वृत्तियों को सहानुभूति और समर्थन मिल जाता है। दूसरी और उन लोगों को, जो सिद्धांतप्रिय हैं और कष्टकर तथा विषम परिस्थतियों में भी अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होते, अनादर और कष्ट झेलने पड़ते हैं। गंभीर चिंतन का स्थान शब्दाडंबर ले लेता है, जनता को संतुष्ट करने के लिए बिना सोचे-समझे वायदे किए जाते हैं और अनुष्ठान-मात्र को उपलब्धि मान लिया जाता है। परिणाम व्यवहार में नही, केवल कागजों पर दिखाए जाते हैं। इस प्रकार के सामाजिक वातावरण में राष्ट्रीय विकास कि दिशा में किए गए गंभीर प्रयास भी दूषित और विषाक्त हो जाते हैं।

सामाजिक संस्थाओं और उनसे संबंधि मूल्यों के विघटन के परिणाम, जाहिर है, शिक्षा में भी प्रतिबिंबित होते हैं, जो जीवन का एक संवेदनशील क्रिया-क्षेत्र है। पर्यावरण में आयी विकृति ने विश्वविद्यालयीन प्रणाली को भारी आघात पहुँचाया है; फलस्वरूप उसमें कुछ सूक्ष्म लक्ष्यांतरण हुए हैं। इसके प्रत्यक्ष कार्यों में-चाहे वे मूलभूत हों अथवा साधन स्वरूप-अनेक प्रच्छन्न कार्य भी शामिल हो गए हैं, जिनमें से कुछ इसके परंपरागत प्रयोजनों को विनष्ट कर देने की धमकी दे रहे हैं। कुछ लोगों के लिए विश्वविद्यालय की डिग्री शिक्षा प्राप्त करने का अवसर और शैक्षिक उपलब्धि के स्तर का अधिप्रमाणन न होकर मात्र प्रतिष्ठा-प्रतीक बन गयी है और अब ऐसे लोगों की खासी संख्या है जो इसे इसी प्रयोजन से देखते हैं। विश्वविद्यालयीन शिक्षा बेरोजगारी को तीन से छह वर्ष तक, या इससे भी अधिक समय तक, छिपाए रखती है। यह सत्य स्वीकार भले न किया जाए पर उच्चशिक्षा विद्यार्थियों की बड़ी संख्या के लिए छद्म बेरोजगारी ही है। यदि कोई यह संदेह करे तो ठीक ही होगा कि सरकारी दृष्टि में उच्चशिक्षा-संस्थाएँ उनके और असंतुष्ट युवाओं के बीच प्रतिरोधक का काम करती हैं और विश्वविद्यालय तथा कॉलेज उनके सबसे पहले कोपभाजन बनते हैं। राजनीतिक दल चपल वृति के विद्यार्थियों का ऐसे डंडे के रूप में इस्तेमाल करते हैं, जिससे वे अपने विरोधियों को डरा-धमकाकर अपनी बात मनवा सकते हैं। शक्ति प्रदर्शन और अल्पकालिक राजनीतिक लक्ष्य शिक्षा प्राप्ति के प्रमुख उद्देश्य बन जाते हैं। संकाय भी राजनीतिक भाषा-शैली अपनाता हैं; उसके कार्य दायित्वपूर्ण सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित नही होते। प्रतिकूल प्रणाली इतनी विकृत हो गयी है कि उसे मिलनेवाला राजनीतिक लाभ समर्पण भाव से किए गए काम की अपेक्षा हमेशा अधिक है। इस प्रकार शैक्षिक गुणवत्ता का महत्व नगण्य हो जाता है। प्रतिभासंपन्न शिक्षाविदों को अपनी लड़ाई आप ही लड़नी पड़ती है।

कुछ ऐसी श्रेष्ठ संस्थाएँ आज भी है, जो चिर अभिलाषित लक्ष्यों की ओर अग्रसर हो सकती है, क्योंकि उन्होंने संघर्ष के समाधान के लिए कुछ कारगर उपाय निकाल लिए हैं, लेकिन उन्हे भी अपनी मंजिल तक पहुँचने में कठिनाई हो रही है। विद्यार्थी इस तरह का व्यवहार करते हैं,मानो कानून उन्ही के हाथ में है। वे समाज के विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के सदस्य हैं,

इसलिए उन्हें हंगामा करने के लिए भारी आर्थिक सहायता दी जाती है। उनके प्रति प्राधिकारियों के रवैए में कभी उदासीनता तो कभी स्नेह प्रदर्शित किया जाता है। उन्हें अपने राजनीतिक संरक्षकों से तो सहायता मिलती ही है, उसके अलावा उन्हें समाज की भ्रांत सहानुभूति भी प्राप्त होती है, जिससे वे बिना किसी दंड या नाममात्र के दंड के साथ अपनी कठिनाइयों से उबर आते हैं। ऐसे अशुभ और भयावह वातावरण में श्रेष्ठ शिक्षाविद या तो उच्च प्रशासनिक पदों से बचते हैं और यदि उन्हें वे पद स्वीकार करने पर राजी कर भी लिया जाए तो इस अग्नि शमन कार्य से जल्दी उकता जाते हैं, क्योंकि उन्हें अपना अधिकांश समय इसी कार्य में लगाना पडता है और शैक्षिक नवाचार तथा परिवर्तन के लिए बहुत कम समय मिल पाता है। न तो शिक्षा-सुधार के लिए ठोस विचारों की कमी है और न ही शैक्षिक गुणवता को प्रोत्साहन देने के लिए कल्पना-प्रवण योजनाओं की। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने अपने अस्तित्व से पहले पच्चीस वर्षो में अनेक उत्कृष्ट सुझाव प्रस्तुत किए हैं। इसके बाद भी उसने राजनीतिक अनिश्चितता और भ्रांत नीतियों के कुछ प्रमुंख पक्षो पर साहसिक रूख अपना कर अपनी शक्ति का परिचय दिया है। यह और बात है कि पर्यावरण संबधी जोर दबाव के कारण अधिक कुछ हो नहीं पाया। महत्वपूर्ण क्षेत्रों में, जहाँ साधांरण-सा गतिरोध भी खतरनाक हो सकता है, स्थिति निस्संदेह बिगडती जा रही है। यदी यही प्रवृत्ति बनी रही तो राष्ट्र के लिए इसके भंयकर परिणाम हो सकते हैं, क्योकि आगामी वर्षों में देश को प्रशिक्षित जनशक्ति के अभाव की समस्या से जूझना होगा और यह समस्या और भी जटिल होती जाएगी, क्योकि युवा समुदाय किसी भी प्रकार के अनुशासन को मानने के लिए तैयार नही हैं।

इस प्रकार की विकट स्थिति उच्चशिक्षा के प्रबंधन के लिए अभूतपूर्व चुनौतियाँ खडी कर रही हैं। जिन क्षेत्रों में समस्या सबसे अधिक जटिल है, वे हैं : शैक्षिक लक्ष्यों की कार्यप्रधान तथा समयबद्ध पुनः परिभाषा; शिक्षा-प्रणाली को दफ्तरशाही से जटिल बनाए बिना दायित्व-भावना जगाना और उसे लागू करना, ताकि शैक्षिक स्वतंत्रता और पहल करने कि शक्ति का हनन न हो; प्रतिफल मान्यता-प्रणाली का इस प्रकार पुनर्गठन करना, जिससे गुणवता पर बल दिया जा सके । सुधारात्मक कार्यवाही की शुरूआत उच्चनीति-स्तर तथा वैयक्तिक संस्थाओं के स्तर पर एक साथ ही जानी चाहिए। यदि इन स्तरों पर इसमें विलंब या संकोच किया गया तो समस्या, जो पहले ही से उलझी हुई है, औंर भी जटिल हो जाएगी और उसका समाधान अनिश्चित काल तक के लिए कठिन होता जाएगा।